International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 03-04-2026, Accepted: 04-05-2026, Published: 19-05-2026
Volume 12, Issue 2, 2026, Page No. 120-123

प्रागैतिहासिक काल एवं वैदिक काल में भारतीय स्त्री की स्थिति

Dr. Susmita Sen
Independent Researcher, Nirmal, Telangana, India

सारांश
स्त्री और पुरुष यह दोनों इकाई इस पृथ्वी में सृष्टि को आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं। सृष्टि दोनों का त्याग एवं समर्पण समान रूप से चाहता है, दोनों प्राणियों के शारीरिक एवं मानसिक भिन्नता के बिना सृजन प्रक्रिया असंभव है। एक मानवीय इकाई के रूप में सभ्यता और संस्कृति के हर स्तर के विकास में स्त्री की भागीदारी अनिवार्य है। ज्यों–ज्यों सभ्यता का विकास हुआ स्त्री की स्थिति में पराधीनता बढ़ती गयी, उसे वस्तु की संज्ञा मिलती रही और अंत में मनोरंजन का एक सामग्री बना दिया गया। पितृसत्ता ने उसके पर्दे में रहने को ही उसका सतीत्व माना, घर के चार दीवारों के बीच उसे सुरक्षित बताया। परंतु उस चारदीवारी के अत्याचार असहनीय थे। उसको शिक्षा से भी वंचित रखा गया। स्त्री के हर निस्वार्थ भाव का सिर्फ फायदा उठाया गया और उसे यह मानने में बाध्य किया गया कि वह पुरुष उसका मालिक है। परंतु स्त्री की स्थिति जो आज है वह प्रारंभ से नहीं थी। आलेख में प्रागैतिहासिक काल और वैदिक काल में स्त्री के अवस्था पर चर्चा किया गया है।

मूल शब्दः प्रागैतिहासिक काल, वैदिक युग, सभ्यता, पितृसत्ता, मातृसत्ता, संस्कृति, विवाह, ऋग्वेद, ब्रह्मवादिनी, स्त्री, पुरुष

प्रागैतिहासिक काल

अभी तक मनुष्य जीवन के प्रारंभ समय को प्रागैतिहासिक युग बोला जा रहा है जिसकी अधिकतर जानकारी उसके मिले कुछ ही अवशेषों एवं अनुमानों पर ही आधारित है इस काल के संबंध में विद्वान हरीदत्त कहते हैं कि "भारत में मानव के आविर्भाव से वैदिक युग तक के काल को प्रागैतिहासिक कहा जाता है। इस काल पर प्रकाश डालने वाली कोई लिखित सामग्री या ग्रंथ नहीं है। यह भारतीय सभ्यता का उषा काल है। इसके ज्ञान का एक मात्र साधन उस युग के मानव द्वारा छोड़े औजार–हथियार तथा अन्य अवशेष हैं..."[1] इस काल पर पुरातत्व विभाग ने देश भर शोध करके हजारों साल पुराने सभ्यताओं के अवशेषों का पता लगाया है और लगभग सभी खोज ने स्त्री का स्थान सभी कलाओं में निपुण एवं सम्माननीय ही पाया है।

विद्वानों श्रीपाद अमृत डांगे प्राचीन समाज की उत्पत्ति के संबंध में अपना मत रखते हुए कहते हैं कि "प्राचीन समाज की उत्पत्ति मातृसत्ता से हुई थी, इस सच को छिपाने की कोशिश आधुनिक विद्वानों ने ही नहीं वरन् पितृसत्ता के प्राचीन लेखकों ने भी की है। आदिम समय संघ में प्रचलित माता के अधिकार और सामूहिक संपत्ति की पद्धति को इतिहास के इतने प्राचीन युग में नष्ट कर दिया गया कि उसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण (लेख) नहीं मिलता। केवल परंपरा और रूढ़ियों में वे जीवित चले आ रहे हैं।"[2] जिस सत्य को पितृसत्तात्मक सोच से प्रभावी विद्वानों ने प्रकाश में नहीं लाने दिया, वह अनुमानित सत्य यह बताता है कि उस समय की नारी एक स्वतंत्र मनुष्य थी उसकी स्थिति संतोषजनक थी, वह नारी जनित कर्तव्यों के कारण अधिक सन्मान एवं आदर की अधिकारिणी थी, उसका संपत्तियों पर अधिकार था, संपत्ति का अर्थ वे सब जो जो मनुष्य द्वारा भोगा जा सके उसके अतिरिक्त संतान, परिवार आदि उसके नाम से परिचित थे। उसके मध्य के उर्वरता ने उसे पूजनीय एवं वंदनीय बनाया था।

भारतीय सनातन संस्कृति में से देवी पूजन आदिम युग से ही विद्यमान है एवं यही इस धर्म की श्रेष्ठता भी है कि इसमें देव से अधिक शक्ति एवं सम्पूर्ण देवियों को दिखाया गया है। मातृशक्ति का परिचय देते हुए विदुषी आशरानी व्होरा कहती हैं कि "हमारी लोक संस्कृती में सभी जगह देवी पूजा के जो विभिन्न रूप मिलते हैं, उससे यह भी सिद्ध है कि हमारे समाज में किसी समय सर्वत्र मातृसत्तात्मक व्यवस्था रही होगी। कहीं–कहीं वैदिक, पौराणिक और महाकाव्य साहित्य में इसके प्रमाण उपलब्ध है और किन्हीं आदिम जातियों में तो आज भी यह व्यवस्था देखी जा सकती है। पर यह निश्चित है कि देश के अधिकांश भाग में यह व्यवस्था वैदिक काल से पूर्व ही रही होगी, वेद कालीन समाज तो पितृसत्तात्मक समाज था।"[3]

हिन्दू धर्म के सबसे सूक्ष्म स्तर पर भी शोध करें तो मूल में आपको स्त्री शक्ति ही मिलेगी– उदाहरण के रूप में आप किसी भी हिन्दू धर्म अनुयायी के घर में जाकर पूछिए उनका ग्राम देवी एवं गृह की ईस्ट देवी होंगी, साधारण बात जो हर हिन्दू व्यक्ति को पता है कि भोजन की इष्ट माता अन्नपूर्णा, धन की माता लक्ष्मी, बच्चे के पैदा होते ही रक्षा की माता षष्ठी माता, शक्ति की माता दुर्गा, न्याय की माता कालरात्रि आदि इस स्त्री सम्मान एवं पूजन का श्रेष्ठ उदाहरण है। यह संस्कृति यह मान्यता स्त्री की उन्नति और प्रथम स्थान मिलने के अनुमान को सत्य बना देता है इसी कथन पर समाज सुधारक लेखिका आशरानी व्होरा कहती हैं कि "आज भी हमारे घरों में पत्नी, बहन, माता, इन सब शब्दों के ऊपर 'लक्ष्मी' और देवी' शब्दों को अधिक श्रद्धा से व्यक्त किया जाता है। धन की देवी लक्ष्मी, ज्ञान की देवी सरस्वती और शक्ति की देवी दुर्गा से क्या अर्थ निकलता है? अवश्य ही प्राचीन भारतीय नारी इन सब शक्तियों के अधिकारिणी रही है, तभी तो देवी के रूप में पूजी गई और विख्यात हुई! ऋग्वेद में सरस्वती को वाक् शक्ति' कहा गया है, जो उस समय की नारी की वक्तृरुत्व–कला और विद्वत्ता की परिचायक है। इससे यह सिद्ध होता है महिलाएं उच्च शिक्षा के अधिकारिणी थीं। लक्ष्मी और दुर्गा के रूप में अर्थसत्ता की स्वामिनी भी। अर्धनारीश्वर' की कल्पना भी उनके समानाधिकार की पुष्टि करती है।"[4] उदाहरण स्वरूप दश भुजा एवं सहस्र भुजा वाली माँ दुर्गा की मूर्ति जो स्त्री के बहु आयामी प्रतिभा, शक्ति, कार्य सिद्धि का प्रतीक है, देवियों में स्त्री के अलग–अलग गुणों का वर्णन मिलना कोई साधारण बात तो नहीं हो सकती इसका यही अर्थ है कि स्त्री को सभ्यता में सबसे प्रथम स्थान में रखने के साथ उसके सभी रूपों को पूजनीय माना गया है। जब देवताओं को चतुर्भुज दिखाया जाता है एवं उसके विपरीत देवियों को दश भुजा यह स्त्री के शक्ति, साहस, सामर्थ्य को प्रदर्शित करता है।

कल्पना भी इंसान तभी कर सकता है जब उसके यथार्थ में कुछ न कुछ प्रमाण मिला हो, हिन्दू धर्म के इन प्रतीकों को जब आप धर्म के नाम पर दरकिनार कर देते हो तब आप पूरे विश्व के स्त्री

जाती के शक्तियों को हास्य पर रखने का कार्य करते हो, क्या माता सरस्वती जो विद्या एवं कला की देवी है वह सिर्फ हिन्दू धर्म की नारियों का प्रतीक मात्र है अपितु वह सम्पूर्ण विश्व के नारी बुद्धि को अपने में समाहित करते हुए प्रफुल्लित एवं शांति की मुद्रा में श्वेत कमल में आसीन है। यह सभी मिथक से कहीं अधिक मानवीय सभ्यता के उन्नति को संभाले हुए प्रतीक हैं। जब हम माँ कामाख्या की बात करते हैं तो वह स्त्री के गर्भधारण शक्ति की प्रतीक है जिससे यह सारा संसार आगे बढ़ता है कोई भी धर्म या कोई भी जाति इस शक्ति से परे अपने अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता है।

इसके अतिरिक्त जब मानव सभ्यता अपने अस्तित्व को आकार देने में लगा था तब अपने जननी के प्रति अत्यंत समर्पित भाव रखा था एवं मातृसत्ता की छाया में ही विकसित होना उसकी आवश्यकता भी थी "पहले नारी बलवती थी गृह की स्वामिनी और संपत्ति की प्रभु। प्रारम्भिक मानव अपने उत्पादक के प्रति अत्यंत श्रद्धालु था। इससे समाज की स्थापना मातृसत्तात्मक हुई। उसी का एक रूप भारत के मालबार में आज भी शेष है।"[5] मातृ केंद्रित समाज आज भी कुछ समूह में देखा जाता है ब्रह्मपुत्र के दक्षिण तट में आसाम के आदिम जाति खासी, गोरा, जयंतिया आदि जनजातियों में, केरल के नायर जाति, दक्षिण भारत के इरुल, पुलायन, कादर एवं मेघालय में भी कुछ जाति की सभ्यता आज भी मातृसत्ता की है। खासी एवं गोरा जनजाति में पुरुष विवाह के पश्चात स्त्री के घर जाकर रहता है एवं अपनी कमाई को पत्नी की माता को देता है, इनकी कुल देवी रहती है, और पुरोहित स्त्री होती है। अगर किसी दम्पत्ति को बेटी न हुआ हो तो लड़की गोद लेने की प्रथा भी है, इनमें पुरुष की आवश्यकता केवल वंश को आगे बढ़ाने के लिए होता है। खासी जनजाति मातृसत्ता का कुछ अलग ही रूप है उसमें संपत्ति पर अधिकार घर की छोटी बेटी का होता है एवं उसके पिता के मृत्यु के बाद उसके माँ को उसके पति से विवाह करना पड़ता है जिससे संपत्ति उसी परिवार की ही रहे।

क्योंकि इस काल का कोई ठोस इतिहास जो लिखित रूप में प्राप्त नहीं है इस कारण गुफाओं, मिट्टी के नीचे दबे पुराने सभ्यता जैसे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेष मिलते हैं एवं उससे यही अनुमान लगाया जाता है कि आर्यों के आने से पूर्व समाज मातृसत्तात्मक था। इस काल अर्थात मानव सभ्यता के प्रारंभ में विवाह पद्धति नहीं होने के कारण स्त्री पुरुष छोटे–छोटे झुंड में रहते थे, मनुष्य यौनिक क्रिया में आधा मनुष्य आधा पशु होने पर भी उसको अपने समूह को आगे बढ़ाने वाली पर पूर्ण रूप से आस्था था वह उसके वर्चस्व को सर्वोपरि मानता था।

वैदिक काल में स्त्री

प्राचीन भारतीय साहित्य का जो लिखित इतिहास मिलता है उसके अनुसार सर्वप्रथम वैदिक काल आता है। वेदों के अध्ययन से उस समय के सभ्यता की गहराई पता चलती है चारों वेदों में से सबसे पहले ऋग्वेद से वैदिक काल के सभ्यता का प्रारम्भिक समय की जानकारी मिलती है। इस समय के समाज की संरचना को देखें तो शासन पितृसत्तात्मक हो चुका था परंतु पुरुष शासित समय में नारी की इतनी उन्नत स्थिति इस युग के उपरांत कहीं नहीं रही। यह युग धर्म, नीति, ज्ञान, जीवन जीने के प्रणाली में उन्नति के शिखर पर रही। पितृसत्ता के आगमन होने पर भी स्त्री वस्तु नहीं बनी थी। इस समय की स्त्री मानसिक एवं शारीरिक दोनों रूप से स्वाधीन थी। स्त्री का मातृ रूप पूजनीय रहा गजानन शर्मा अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि "वैदिक युग में पितृसत्ता परिवार होते थे। मातृसत्ता परिवार का वर्णन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता।... किन्तु पिता के प्रभुता का यह अर्थ नहीं था कि माता की सत्ता कम मानी जाती हो। उसे तो पिता से पहले आदर दिया जाता था, 'यवा मातृदेवो भव' के पश्चात ही 'पितृदेवो भव' कहा गया था।"[6] पिता गृह का स्वामी हो गया था तो उसे देव तुल्य पूजा जाता था इस कारण परिवार के सभी सदस्यों एवं संपत्ति पर उसका अधिकार हो चुका था इसका यह अर्थ कदापि नहीं बना था कि स्त्री का कोई सम्मान नहीं होता था, स्त्री दुहिता, भगिनी, पत्नी, माँ के रूप में पूजनीय एवं आदर की अधिकारी बनी रही।

वैदिक काल पितृ केंद्रित हो चुका था तो स्वाभाविक है कि समाज पुत्र की कामना अपने वंश के विस्तार के लिए करेगा, उत्तराधिकार चुनने के लिए करेगा, जब युद्धों का समय है तब जीवन हानि सुनिश्चित है उसमें जितने के लिए एवं लड़ने के लिए पुत्र कामना स्वाभाविक हो गया था। इस काल में धार्मिक संस्कार में भी 'पुत्र के पिंड दान से पूर्वजों का मोक्ष है' यह परिकल्पना आ चुका था (यह सोच आज भी समाज में है), इन सभी कामनाओं का अर्थ यह नहीं था की समाज को पुत्री से कोई शत्रुता या विमुखता थी, पुत्री की कामना भी उसी सहृदय से ईश्वर से किया जाता था, उनका भी शिक्षा, संपत्ति, धर्म पर पूर्ण अधिकार था, उसको अधिकार था अपने जीवन का निर्णय लेने के लिए इसका सबसे बड़ा उदाहरण स्वयंवर सभा के रूप में देख सकते हैं। विदुषी आशारानी व्हारा कहती हैं कि "वेद कालीन समाज पितृसत्तात्मक होने से उसमें पुत्री से पुत्र को वरीयता दी गई है।... पर पुत्र कामना रखने पर भी पुत्री का तिरस्कार न था। पुत्र, पुत्री के पालन पोषण में भेदभाव न था। लड़कियों को उच्च शिक्षा या वेद के पठन पाठन से वंचित नहीं रखा गया था। बाल विवाह का चलन न था। आजीवन कुमारी रहने की इच्छा रखने पर पुत्री को पीता की संपत्ति में उत्तराधिकार दिया गया था। जब कि विवाहित स्त्री अपने स्त्री–धन को इच्छानुसार खर्च कर सकती थी।"[7] यही स्त्री धन आज दहेज में परिणत हो गया है जिस पर कन्या का अधिकार नहीं रहकर वर एवं उसके परिवार का अधिकार आ गया है।

स्त्री के इच्छाओं का सम्मान था जो स्त्री विवाह नहीं करना चाहती थी, आजीवन विद्या अध्ययन और अध्यापन में बिताना चाहती थी उसे समाज ब्रह्मवादिनी कहते थे अतीत के इस श्रेष्ठता को दर्शाते हुए आशरानी व्हारा कहती हैं कि "ज्ञानार्जन में जीवन बिताते हुए ऋषिकाए बनने वाली कुमारियाँ ब्रह्मवादिनी कहलाती थी। वह वेद अध्ययन के साथ अध्यापन भी करती थी यज्ञ काम भी करवाती थी। ऋग्वेद के अनेक सूत्रों की रचना इन ऋषिकाओं या ब्रह्मवादिनियों द्वारा की गई है। घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, शचीपोलोमी, वाग्भणी, विश्वंभरा आदि प्रसिद्ध नाम में से कुछ कवियत्रियां थीं, कुछ शास्त्रज्ञ।"[8] पितृसत्तात्मक सोच ने समय के अनुसार पुत्र के जन्म को उन्नति एवं पुत्री के आगमन को बोझ बना दिया। इसके पीछे विवाह अनुष्ठान कार्य करता है क्योंकि विवाह के बाद बेटी दूसरे घर को चली जाती एवं विवाह के समय जिस धन का व्यय होता है वह पुत्री के जन्म को बोझिल बना देना है, इस सोच में स्त्रियों का कोई योगदान नहीं होने के कारण उनके जीवन का मोलभाव होते मिलता है, आज के समय विवाह दो परिवार का मिलन, दो इंसान के नवीन जीवन के प्रारंभ से अधिक अपने धन का दिखावा, एवं लड़के की कमाई के अनुसार दहेज देना हो गया है, विवाह में जो भी संपत्ति दिया जाता था वह स्त्री धन के रूप प्रचलित था जिस पर स्त्री का अधिकार था आज वह दहेज बनकर स्त्री के आत्महत्या एवं हत्या का कारण बन गया है। पिता का पुत्री के प्रति दायित्व भाव जो एक समय वह अपने खुशी से निर्वाह करता था आज वह उसको आजीवन कर्ज में डुबाए रखने का रिवाज बन दिया गया है।

वेदों के अनुसार स्त्री सर्व शक्तिमान है इस कारण उसका सम्मान एवं संरक्षण मानव जाती का परम कर्तव्य हो जाता है। उसको पिता के गृह में पढ़ने की स्वाधीनता थी, युद्ध कला वह भाइयों के साथ सीखती थी, स्वयंवर भी स्त्रियों का होता था पुरुषों का नहीं

और विवाह में स्त्री दासी बनकर नहीं ससुराल की साम्राज्ञी बनाकर रहने का आशीर्वाद पाती थी, गृहकार्य करना कोई बाध्य–बाधकता नहीं अपितु उसके जीवन के कर्तव्यों में से एक था जो उसके शिक्षण के सीमा में भी आता था किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य के लिए पति–पत्नी दोनों का साथ में होना अनिवार्य था, "ऋग्वेद की नारी, शक्ति और औदार्य की सीमा है, पुत्री की हैसियत से पिता की सम्पत्ति में उसका अधिकार है। युवती की हैसियत से वह अपना पति आप चुनती है; यद्यपि यही स्वतन्त्रता कभी–कभी उसके लिये अभिशाप बन जाती है। घोषा उस अभिशाप का उदाहरण है। विवाह के अवसर पर पुरोहित उसे आशीर्वाद देता है, स्वसुर की साम्राज्ञी बनो, सास की साम्राज्ञी बनो, नन्दों और देवरों को साम्राज्ञी बनो, गृह–समुदाय के प्रति गृहपत्नी (रानी) के अधिकार से बोलो, द्विपदों और चतुष्पदों के अर्थ कल्याणी सिद्ध हो।' पत्नी की हैसियत काफी ऊंचा है और इस ऋग्वैदिक ऊँचाई तक इस रूप में भारतीय नारी कभी नहीं उठी, न पहले, न पीछे। अपनी शक्ति और ऊँचाई का वह स्वयं प्रतीक है।"[9] विवाह के समय उसे आशीष दिया जाता है कि वह अपने ससुराल में सम्राज्ञी बने, सभी उसे प्रेम करें।

उस काल में लड़की के विवाह उम्र 17–18 साल था, बालविवाह का प्रचलन नहीं था, विधवाओं का पुनर्विवाह होता था, अपने मन के अनुसार 'वर' चुनने का अधिकार उन्हें था। विवाह उसके लिए अपने आपको किसी का गुलाम बनाने की प्रथा न होकर एक नवीन जीवन का शुभारंभ था, उस समय में सतीप्रथा नहीं था इस बात को जोर देते हुए आशारनी आपणए पुस्तक में लिखती हैं कि "17–18 वर्ष की आयु से पूर्व लड़कियों के विवाह नहीं होते थे। शिक्षा–काल में लड़कियां भी ब्रह्मचारी का पालन करती थीं।... बाल विवाह की प्रथा नहीं थी। ऋग्वेद–काल में यद्यपि परिवार पितृसत्तामक था और बहुपत्नी प्रथा का उल्लेख भी मिलता है,पर विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं था। बल्कि स्त्रियों को नियोग का भी अधिकार था।"[10] विवाह का जो आयु है उससे यह सिद्ध होता है कि लड़की का मासिक धर्म प्रारंभ होने के पश्चात ही उसे विवाह करने योग्य माना जाता था, पति के मृत्यु पर उसे अपने देवर से शादी करने का नियम था, उसके साथ नियोग करके संतान प्राप्ति कर सकती थी। इस को प्रमाणित करते हुए भगवत शरण कहते हैं कि "ऋग्वेद काल में सती प्रथा का प्रयोग नहीं किया गया, चाहे जिन कारणों से भी ऐसा हुआ हो।... पति के मरने पर पत्नी उसकी अप्रज्वलित चीता का आरोहण करती, उसके शव के बराबर लेट जाती और उसके प्रज्वलित होने के पूर्व वहाँ से उतर उसके पति के हाथ से धनुष स्वीकार करनेवाले देवर का तत्काल वरण करती। अपने पहले विवाह के अवसर पर ही उसकी 'देवृकामा' संज्ञा इस आचरण के अनुरूप उसे प्रदान की जा चुकी थी।"[11] लड़की को विवाह के अवसर पर ही परिस्थिति आने पर देवर की कामना करने का अधिकार दे दिया जाता था और धनुष लेने का अर्थ उस परिवार का मुखिया होना तब उसका कर्तव्य समस्त परिवार को सुरक्षा प्रदान करना राहत है, उस समय देवर से विवाह करने का अर्थ संरक्षण, सुरक्षा के अर्थ में लिया गया होगा।

उस समय में नारी शिक्षा की बात करें तो वह शास्त्र एवं शस्त्र दोनों विद्याओं की अधिकारिणी थी "ऋग्वेद में नारी, नर के अधिकारों के काफी निकट पहुँच जाती है। गृह–विधान सारा उसके हाथ में है। वह गृह–स्वामिनी है। भाई के भाँति वह विद्या अध्ययन करती है, अस्त्र चलना सीखती है, पति के भाँति रण में जाती है, शत्रु का पीछा करती है।... धर्म कृत्यों में आँवगुंठित सम्मिलित होती है, समर में शक्ति का प्रदर्शन करती है।"[12] वह गृह निर्माता थी इसलिए एक पुरुष से अधिक उसका कर्तव्य था न केवल उसे बच्चे पैदा करने थे समय आने पर उस घर की शत्रुओं से रक्षा भी करनी थी। "हारीत–सहीता के अनुसार 'स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं ब्रम्हवादिनी और साधोवाह, ब्रम्हवादिनी यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने, वेदाध्ययन करने और अपने ही घरों से भिक्षा मांगने की अधिकारिणी हैं। माध्वाचार्य के मत से स्त्रियों का विवाह उपनयन के पश्चात होना चाहिए।"[13] उपनयन का अर्थ गुरु चयनित कर उनके शरण में विद्या अध्ययन का आरंभ करना "वैदिककाल में स्त्रियों को आजीवन विद्या अध्ययन और अध्यापन करते हुए ब्रम्हचारिणी रहने का भी स्वाधीनता थी, वह वेदाध्ययन के साथ कविताएं बनाती थीं, त्याग एवं तपस्या से ऋषि भाव प्राप्त करके मंत्रों का साक्षात्कार भी कर लेती थी, यह आध्यात्मिक उन्नति में भी अपना योगदान देती थीं, साधोवाह स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन में ही कर्मरत रहती थीं परंतु गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पहले वह ब्रम्हाचारिणी बन कर विद्या अध्ययन करती थी।"[14] उस समय विद्या सभी के लिए अनिवार्य था, स्त्री विवाह करेगी या नहीं यह उसका निर्णय था परंतु उसको दोनों ही अवस्था में शिक्षित होना अनिवार्य था। मंत्र, यज्ञ, पूजा आदि ज्ञान प्राप्ति में पुरुष एवं स्त्री में कोई अंतर नहीं था "विद्या पुरुष ऋषियों की भांति अनेक नारियां भी आचरण करती हैं। वे ऋषि हैं, कवयित्री हैं। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों की वे द्रष्टा हैं और आर्य उनके मंत्र भी उसी निष्ठा और उल्लास से गाते हैं, जिससे नर–ऋषियों के मंत्र। घोषा, अपाला, विश्ववारा, लोपामुद्र, शची–पौलोमी, वागंभ्रणी आदि अनेक नारी द्रष्टाओं के मंत्र ऋग्वेद में सुरक्षित हैं।"[15]

'कन्या रत्न है' यह बात आज भी भारतीय लोक संस्कृति में प्रचलित है, यह रत्न वैदिक काल में स्त्री के बुद्धि को सम्मान कर बोला जाता था जब की आज यह नारी के संरक्षण और दान देने योग्य के रूप में बोला जाता है, उस समय वह घर में छिपाकर रखने वाली रत्न (अमूल्य वस्तु) नहीं थी। गजानन शर्मा अपनी किताब में लिखते हैं "वेद काल में नारी एक रत्न थी। उस समय में राजा की सहायता के लिए जो पदाधिकारी होते थे, वे 'वीर' या 'रत्न' कहलाते थे। बुद्धकाल में भी रत्नों का उल्लेख मिलता है। पुरोहित सेनानी एवं 'समग्रह' नामक रत्नों के साथ ही 'महीषी' को भी रत्न–संज्ञा से अभिहित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि राजा–रानी को राजकार्य में प्रमुख स्थान प्राप्त था। नारी–सम्मान का ऊंचा आदर्श भारत में सदा से प्रचलित रहा है।"[16] इस मत को एक उदाहरण के साथ समझना चाहिए जब हम शतरंज के खेल को लक्ष्य करें तो उसमें सबसे ताकतवर मोहरा राजा के पास का मोहरा जिसे मंत्री, वजीर के साथ साथ रानी भी कहा जाता है। वेद कालों में नारियों को शस्त्र एवं शास्त्र दोनों की शिक्षा मिलती थी वे जितने गृह कार्य में निपुण थे उतने राज कार्य में भी इसी कारण राज सभा में उन्हें राज–महिषी अथवा रत्न के साथ सम्बोधन किया जाता था। राजा अपने निर्णयों में रानी के हस्तक्षेप की आशा करते थे।

निष्कर्ष

इस काल में हमें पितृसत्ता का एक उदार रूप ही देखने को मिलता है जो समानता एवं परस्पर परिपूरक भाव से सभ्यता के विकास पर विश्वास रखते थे। शासन का भार जिसके हात रहता है स्वामी तो वही बना राहत है चाहे ओ जितना भी छूट दे वह दया में ही जाता हैं। ऋग्वेद में नारी एवं पुरुष के अधिकारों में अधिक अंतर नहीं था लेकिन जो कार्य क्षेत्र निर्धारित कर दिया गया था हो सकता है वह उस समय नारी की सुरक्षा एवं आराम से भरे जीवन के लिए हो लेकिन आगे चलकर वह उसके लिए अनिवार्य एवं कमजोरी का प्रतीक बन गया। उत्तर वैदिक युग से स्त्री की पितृसत्ता के कट्टरता का शिकार होने लगी उसके पीछे भी कुछ सामाजिक, धार्मिक कारण रहें है परंतु जो स्थिति बदली वह अब तक नाम मात्र भी नहीं सुधरी, आधुनिक काल के स्त्रियों को देखकर हम बोल सकते हैं वह स्वाधीन है स्वावलंबी है परंतु बलात्कार, भ्रूण हत्या, जब चाहे बहु को मार डालना, प्रेमिका को मार डालना, पत्नी को मार डालना, मन चाहे तरीके से उनका शोषण करना, क्या यह एक स्वस्थ समाज का प्रतीक है इस पर एक लंबी बहस की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. हरीदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1652, पृ.सं.–6
2. श्रीपाद अमृत डांगे, भारत, पोपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1978, पृ.सं.– 85
3. आशारानी व्होरा, नारी शोषण आईने और आयाम, नैशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, 1982, पृ.सं.–4
4. आशारनी व्होरा, औरत कल आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, 2014, पृ.सं.12
5. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, जनवाणो प्रेस एंड पब्लिकैशन, बनारस, 1650, पृ. सं.–285
6. गजानन शर्मा, प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृ.सं.–50
7. आशारानी व्होरा, नारी शोषण आईने और आयाम, नैशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, 1982, पृ.सं.–5
8. वही, पृ.सं.–6
9. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, जनवाणो प्रेस एंड पब्लिकैशन, बनारस, 1650, पृ. सं.–255
10. आशारनी व्होरा, औरत कल आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, 2014, पृ.सं.–12
11. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, जनवाणो प्रेस एंड पब्लिकैशन, बनारस, 1650, पृ. सं.–258
12. वही, पृ.सं.–255
13. गजानन शर्मा, प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृ.सं.–48
14. वही, पृ.सं.–48
15. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, भगवत शरण उपाध्याय, जनवाणो प्रेस एंड पब्लिकैशन, बनारस, 1650, पृ.सं.–256
16. गजानन शर्मा, प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, गजानन शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृ.सं.–47